

अध्याय दो : गीता का सार

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

सञ्जयः उवाच— संजय ने कहा; तम्— अर्जुन के प्रति; तथा— इस प्रकार; कृपया— करुणा से; आविष्टम्— अभिभूत; अश्रु-पूर्ण-आकुल— अश्रुओं से पूर्ण; इक्षणम्— नेत्र; विषीदन्तम्— शोकयुक्त; इदम्— यह; वाक्यम्— वचन; उवाच— कहा; मधु-सूदनः— मधु का वध करने वाले (कृष्ण) ने ।

संजय ने कहा — करुणा से व्याप्त, शोकयुक्त, अश्रुपूरित नेत्रों वाले अर्जुन को देख कर मधुसूदन कृष्ण ने ये शब्द कहे ।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्गमकीर्तिंकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; कुतः— कहाँ से; त्वा— तुमको; कश्मलम्— गंदगी, अज्ञान; इदम्— यह शोक; विषमे— इस विषम अवसर पर; समुपस्थितम्— प्राप्त हुआ; अनार्य— वे लोग जो जीवन के मूल्य को नहीं समझते; जुष्टम्— आचरित; अस्वर्गम्— उच्च तोकों को जो न ले जाने वाला; अकीर्ति— अपयश का; करम्— कारण; अर्जुन— हे अर्जुन ।

श्रीभगवान् ने कहा — हे अर्जुन! तुम्हारे मन में यह कल्मष आया कैसे? यह उस मनुष्य के लिए तनिक भी अनुकूल नहीं है, जो जीवन के मूल्य को जानता हो । इससे उच्चलोक की नहीं अपितु अपयश की प्राप्ति होती है ।

कलैव्यं मा स्म गमः पार्थै नैतत्त्व्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तवोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

कलैव्यम्— नपुंसकता; मास्म— मत; गमः— प्राप्त हो; पार्थ— हे पृथापुत्र; न— कभी नहीं; एतत्— यह; त्वयि— तुमको; उपपद्यते— शोभा देता है; क्षुद्रम्— तुच्छ; हृदय— हृदय की; दौर्बल्यम्— दुर्बलता; त्यक्त्वा— त्याग कर; उत्तिष्ठ— खड़ा हो; परम्-तप— हे शत्रुओं का दमन करने वाले ।

हे पृथापुत्र! इस हीन नपुंसकता को प्राप्त मत होओ । यह तुम्हें शोभा नहीं देती । हे शत्रुओं के दमनकर्ता! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े होओ ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदनं ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदनं ॥ ४ ॥

अर्जुनः उवाच— अर्जुन ने कहा; कथम्— किस प्रकार; भीष्मम्— भीष्म को; अहम्— मैं; संख्ये— युद्ध में; द्रोणम्— द्रोण को; च— भी; मधुसूदन— हे मधु के संहारकर्ता; इषुभिः— तीरों से; प्रतियोत्स्यामि— उलट कर प्रहार करूँगा; पूजा-अर्है— पूजनीय; अरि-सूदन— हे शत्रुओं के संहारक!

अर्जुन ने कहा – हे शत्रुहन्ता! हे मधुसूदन! मैं युद्धभूमि में किस तरह भीष्म तथा द्रोण जैसे पूजनीय व्यक्तियों पर उलट कर बाण चलाऊँगा?

गुरुनहत्वा हि महानुभवान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुज्जीय भोगान्तुधिप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरुन्— गुरुजनों को; अहत्वा— न मार कर; हि— निश्चय ही; महा-अनुभवान्— महापुरुषों को; श्रेयः— अच्छा है; भोक्तुम्— भोगना; भैक्ष्यम्— भीख माँगकर; अपि— भी; इह— इस जीवन में; लोके— इस संसार में; हत्वा— मारकर; अर्थ— लाभ भी; कामान्— इच्छा से; तु— लेकिन; गुरुन्— गुरुजनों को; इह— इस संसार में; एव— निश्चय ही; भुज्जीय— भोगने के लिए बाध्य; भोगान्— भोग्य वस्तुएँ; रुधिर— रक्त से; प्रदिग्धान्— सनी हुई, रंजित।

ऐसे महापुरुषों को जो मेरे गुरु हैं, उन्हें मार कर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर खाना अच्छा है। भले ही वे सांसारिक लाभ के इच्छुक हों, किन्तु हैं तो गुरुजन ही। यदि उनका वध होता है तो हमारे द्वारा भोग्य प्रत्येक वस्तु अनके रक्त से सनी होगी।

न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरियो
 यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
 यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
 स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

न- नहीं; च- भी; एतत्- यह; विद्यः- हम जानते हैं; कतरत्- जो; नः- हमारे लिए; गरीयः- श्रेष्ठ; यत् वा- अथवा; जयेम- हम जीत जाएँ; यदि- यदि; वा- या; नः- हमको; जयेयुः- वे जीतें; यान्- जिनको; एव- निश्चय ही; हत्वा- मारकर; न- कभी नहीं; जिजीविषामः- हम जीना चाहेंगे; ते- वे सब; अवस्थिताः- खड़े हैं; प्रमुखे- सामने; धार्तराष्ट्राः- धृतराष्ट्र के पुत्र।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है – उनको जीतना या उनके द्वारा जीते जाना। यदि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों का वथ कर देते हैं तो हमें जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वे युद्धभूमि में हमारे समक्ष खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
 पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
 यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
 शिष्यस्तेऽहं शाथि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य- कृपणता; दोष- दुर्बलता से; उपहत- ग्रस्त; स्वभावः- गुण, विशेषताएँ; पृच्छामि- पूछ रहा हूँ; त्वाम्- तुम से; सम्मूढः- मोहग्रस्त; चेताः- हृदय में; यत् जो; श्रेयः- कल्याणकारी; स्यात्- हो; निश्चितम्- विश्वासपूर्वक; ब्रूहि- कहो; तत्- वह; मे- मुझको; शिष्यः- शिष्य; ते- तुम्हारा; अहम्- मैं; शाथि- उपदेश दीजिये; माम्- मुझको; त्वाम्- तुम्हारा; प्रपन्नम्- शरणागत।

अब मैं अपनी कृपण-दुर्बलता के कारण अपना कर्तव्य भूल गया हूँ और सारा धैर्य खो चूका हूँ। ऐसी अवस्था में मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो उसे निश्चित रूप से बताएँ। अब मैं आपका शिष्य हूँ और शरणागत हूँ। कृप्या मुझे उपदेश दें।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

न—नहीं; हि—निश्चय ही; प्रपश्यामि—देखता हूँ; मम—मेरा; अपनुद्यात्—दूर कर सके; यत्—जो; शोकम्—शोक; उच्छोषणम्—सुखाने वाला; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों को; अवाप्य—प्राप्त करके; भूमौ—पृथ्वी पर; असपत्नम्—शत्रुविहीन; ऋद्धम्—समृद्ध; राज्यम्—राज्य; सुराणाम्—देवताओं का; अपि—चाहे; च—भी; आधिपत्यम्—सर्वोच्चता।

मुझे ऐसा कोई साधन नहीं दिखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके। स्वर्ग पर देवताओं के आधिपत्य की तरह इस धनधान्य-सम्पन्न सारी पृथ्वी पर निष्कंटक राज्य प्राप्त करके भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।

सञ्जय उवाच
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; हृषीकेशम्—कृष्ण से, जो इन्द्रियों के स्वामी हैं; गुडाकेशः—अर्जुन, जो अज्ञान को मिटाने वाला है; परन्तपः—अर्जुन, शत्रुओं का दमन करने वाला; न योत्स्ये—नहीं लड़ूँगा; इति—इस प्रकार; गोविन्दम्—इन्द्रियों के आनन्ददायक कृष्ण से; उक्त्वा—कहकर; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

संजय ने कहा—इस प्रकार कहने के बाद शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन कृष्ण से बोला, “हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा,” और चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत
सेन्योरुभ्योर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

तम्— उससे; उवाच— कहा; हृषीकेश— इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण ने; प्रहसन्— हँसते हुए; इव— मानो; भारत— हे भरतवंशी धूतराष्ट्रः; सेनयोः— सेनाओं के; उभयोः— दोनों पक्षों की; मध्ये— बीच में; विषीदन्तम्— शोकमग्न; इदम्— यह (निम्नलिखित); वचः— शब्द |

हे भरतवंशी (धूतराष्ट्र)! उस समय दोनों सेनाओं के मध्य शोकमग्न अर्जुन से कृष्ण ने मानो हँसते हुए ये शब्द कहे ।

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूनश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् उवाच— श्रीभगवान् ने कहा; अशोच्यान्— जो शोक के योग्य नहीं है; अन्वशोचः— शोक करते हो; त्वम्— तुम; प्रज्ञावादान्— पाण्डित्यपूर्ण बातें; च— भी; भाषसे— कहते हो; गत— चले गये, रहित; असून्— प्राण; अगत— नहीं गये; असून्— प्राण; च— भी; न— कभी नहीं; अनुशोचन्ति— शोक करते हैं; पण्डिताः— विद्वान लोग ।

श्री भगवान् ने कहा— तुम पाण्डित्यपूर्ण वचन कहते हुए उनके लिए शोक कर रहे हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं | जो विद्वान होते हैं, वे न तो जीवित के लिए, न ही मृत के लिए शोक करते हैं ।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव नभविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न—नहीं; तु—लेकिन; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; जातु—किसी काल में; न—नहीं; आसम्—था; न—नहीं; त्वम्—तुम; न—नहीं; इमे—ये सब; जन-अधिपाः—राजागण; न—कभी नहीं; च—भी; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यामः—रहेंगे; सर्वे वयम्—हम सब; अतः परम्—इससे आगे।

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं न रहा होऊँ या तुम न रहे हो अथवा ये समस्त राजा न रहे हों; और न ऐसा है कि भविष्य में हम लोग नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुद्यति ॥ १३ ॥

देहिनः—शरीरधारी की; अस्मिन्—इसमें; यथा—जिस प्रकार; देहे—शरीर में; कौमराम्—बाल्यावस्था; यौवनम्—यौवन, तारुण्य; जरा—वृद्धावस्था; तथा—उसी प्रकार; देह—अन्तर—शरीर के स्थानान्तरण की; प्राप्तिः—उपलब्धि; धीरः—धीर व्यक्ति; तत्र—उस विषय में; न—कभी नहीं; मुद्यति—मोह को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार शरीरधारी आत्मा इस (वर्तमान) शरीर में बाल्यावस्था से तरुणावस्था में और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता।

मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
अगामापायिनोऽनित्यास्तास्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

मात्रा-स्पर्शः— इन्द्रियविषय; तु— केवल; कौन्तेय— हे कुन्तीपुत्र; शीत— जाड़ा; उष्ण— ग्रीष्म; सुख— सुख; दुःख— तथा दुख; दाः— देने वाले; आगम— आना; अपायिनः— जाना; अनित्यः— क्षणिक; तान्— उनको; तितिक्षस्व— सहन करने का प्रयत्न करो; भारत— हे भरतवंशी ।

हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्वी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

यम्—जिस; हि— निश्चित रूप से; न— कभी नहीं; व्यथ्यन्ति— विचलित नहीं करते; एते— ये सब; पुरुषम्— मनुष्य को; पुरुष-ऋषभ— हे पुरुष-श्रेष्ठ; सम— अपरिवर्तनीय; दुःख— दुख में; सुखम्— तथा सुख में; धीरम्— धीर पुरुष; सः— वह; अमृतत्वाय— मुक्ति के लिए; कल्पते— योग्य है ।

हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो पुरुष सुख तथा दुख में विचलित नहीं होता और इन दोनों में समभाव रहता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

न— नहीं; असतः— असत् का; विद्यते— है; भावः— चिरस्थायित्व; न— कभी नहीं; अभावः— परिवर्तनशील गुण; विद्यते— है; सतः— शाश्वत का; उभयोः— दोनों का; अपि— ही; दृष्टः— देखा गया; अन्तः— निष्कर्ष; तु— निस्सन्देह; अनयोः— इनक; तत्त्व— सत्य के, दर्शिभिः— भविष्यत्रष्टा द्वारा ।

तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि असत् (भौतिक शरीर) का तो कोई चिरस्थायित्व नहीं है, किन्तु सत् (आत्मा) अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कष्ठिचत्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अविनाशि— नाशरहित; तु— लेकिन; तत्— उसे; विद्धि— जानो; येन— जिससे; सर्वम्— सम्पूर्ण शरीर; इदम्— यह; ततम्— परिव्याप्ति; विनाशम्— नाश; अव्ययस्य— अविनाशी का; अस्य— इस; न कष्ठिचत्— कोई भी नहीं; कर्तुम्— करने के लिए; अर्हति— समर्थ है।

जो सारे शरीर में व्याप्त है उसे ही अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्त-वन्त— नाशवान्; इमे— ये सब; देहाः— भौतिक शरीर; नित्यस्य— नित्य स्वरूप; उक्ताः— कहे जाते हैं;
शरीरिणः— देहधारी जीव का; अनाशिनः— कभी नाश न होने वाला; अप्रमेयस्य— न मापा जा सकने योग्य;
तस्मात्— अतः; युध्यस्व— युद्ध करो; भारत— हे भरतवंशी ।

अविनाशी, अप्रमेय तथा शाश्वत जीव के भौतिक शरीर का अन्त अवश्यम्भावी है । अतः हे
भारतवंशी! युद्ध करो ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यः— जो; एनम्— इसको; वेत्ति— जानता है; हन्तारम्— मारने वाला; यः— जो; च— भी; एनम्— इसे; मन्यते—
मानता है; हतम्— मरा हुआ; उभौ— दोनों; तौ— वे; न— कभी नहीं; विजानीतः— जानते हैं; न— कभी नहीं;
अयम्— यह; हन्ति— मारता है; न— नहीं; हन्यते— मारा जाता है ।

जो इस जीवात्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी
हैं, क्योंकि आत्मा न तो मरता है और न मारा जाता है ।

न जायते प्रियते वा कदाचिन्
नार्यं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

न—कभी नहीं; जायते—जन्मता है; प्रियते—मरता है; वा—या; कदाचित्—कभी भी (भूत, वर्तमान या भविष्य); न—कभी नहीं; अयम्—यह; भूत्वा—होकर; भविता—होने वाला; वा—अथवा; न—नहीं; भूयः—अथवा, पुनः होने वाला है; अजः—अजन्मा; नित्यः—नित्य; शाश्वतः—स्थायी; अयम्—यह; पुराणः—सबसे प्राचीन; न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है; हन्यमाने—मारा जाकर; शरीरे—शरीर में;

आत्मा के लिए किसी भी काल में न तो जन्म है न मृत्यु । वह न तो कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा । वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है । शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

वेद—जानता है; अविनाशिनम्—अविनाशी को; नित्यम्—शाश्वत; यः—जो; एनम्—इस (आत्मा); अजम्—अजन्मा; अव्ययम्—निर्विकार; कथम्—कैसे; सः—वह; पुरुषः—पुरुष; पार्थ—हे पार्थ (अर्जुन); कम्—किसको; घातयति—मरवाता है; हन्ति—मारता है; कम्—किसको ।

हे पार्थ! जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा अविनाशी, अजन्मा, शाश्वत तथा अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है या मरवा सकता है ?

वांसासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देहि ॥ २२ ॥

वासांसि- वस्त्रों को; जीर्णानि- पुराने तथा फटे; यथा- जिस प्रकार; विहाय- त्याग कर; नवानि- नए वस्त्र; गृह्णाति- ग्रहण करता है; नरः- मनुष्य; अपराणि- अन्य; तथा- उसी प्रकार; शरीराणि- शरीरों को; विहाय- त्याग कर; जीर्णानि- वृद्ध तथा व्यर्थ; अन्यानि- भिन्न; संयाति- स्वीकार करता है; नवानि- नये; देही- देहधारी आत्मा ।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नए वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

न- कभी नहीं; एनम्- इस आत्मा को; छिन्दन्ति- खण्ड-खण्ड कर सकते हैं; शस्त्राणि- हथियार; न- कभी नहीं; एनम्- इस आत्मा को; दहति- जला सकता है; पावकः- अग्नि; न- कभी नहीं; च- भी; एनम्- इस आत्मा को; क्लेदयन्ति- भिगो सकता है; आपः- जल; न- कभी नहीं; शोषयति- सुखा सकता है; मारुतः- वायु ।

यह आत्मा न तो कभी किसी शस्त्र द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, न जल द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है ।

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुत्त्वलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अच्छेद्यः— न टूटने वाला; अयम्— यह आत्मा; अदाह्यः— न जलाया जा सकने वाला; अयम्— यह आत्मा;
अक्लेद्यः— अघुलनशील; अशोष्यः— न सुखाया जा सकने वाला; एव— निश्चय ही; च— तथा; नित्यः—
शाश्वत; सर्व-गतः— सर्वव्यापी; स्थाणुः— अपरिवर्तनीय, अविकारी; अचलः— जड़; अयम्— यह आत्मा;
सनातनः— सदैव एक सा ।

यह आत्मा अखंडित तथा अघुलनशील है। इसे न तो जलाया जा सकता है, न ही सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर तथा सदैव एक सा रहने वाला है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैव नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्तः— अदृश्य; अयम्— यह आत्मा; अचिन्त्यः— अकल्पनीय; अयम्— यह आत्मा; अविकार्यः—
अपरिवर्तित; अयम्— यह आत्मा; उच्यते— कहलाता है; तस्मात्— अतः; एवम्— इस प्रकार; विदित्वा—
अच्छी तरह जानकर; एनम्— इस आत्मा के विषयमें; न— नहीं; अनुशोचितुम्— शोक करने के लिए; अर्हसि—
योग्य हो।

यह आत्मा अव्यक्त, अकल्पनीय तथा अपरिवर्तनीय कहा जाता है। यह जानकार तुम्हें शरीर के लिए
शोक नहीं करना चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमहसि ॥ २६ ॥

अथ— यदि, फिर भी; च— भी; एनम्— इस आत्मा को; नित्य-जातम्— उत्पन्न होने वाला; नित्यम्— सदैव के लिए; वा— अथवा; मन्यसे— तुम ऐसा सोचते हो; मृतम्— मृत; तथा अपि— फिर भी; त्वम्— तुम; महा-बाहो हे शूरवीर; न— कभी नहीं; एनम्— आत्मा के विषय में; शोचितुम्— शोक करने के लिए; अर्हसि— योग्य हो;

किन्तु यदि तुम यह सोचते हो कि आत्मा (अथवा जीवन का लक्षण) सदा जन्म लेता है तथा सदा मरता है तो भी हे महाबाहु! तुम्हारे शोक करने का कोई कारण नहीं है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्योऽर्थं न त्वं शोचितुमहसि ॥ २७ ॥

जातस्य— जन्म लेने वाले की; हि— निश्चय ही; ध्रुवः— तथ्य है; मृत्युः— मृत्यु; ध्रुवम्— यह भी तथ्य है; जन्म— जन्म; मृतस्य— मृत प्राणी का; च— भी; तस्मात्— अतः; अपरिहार्ये— जिससे बचा न जा सके, उसका; अर्थ— के विषय में; न— नहीं; त्वम्— तुम; शोचितुम्— शोक करने के लिए; अर्हसि— योग्य हो।

जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः अपने अपरिहार्य कर्तव्यपालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अव्यक्त-आदीनि- प्रारम्भ में अप्रकट; भूतानि- सारे प्राणी; व्यक्त- प्रकट; मध्यानि- मध्य में; भारत- हे भरतवंशी; अव्यक्त- अप्रकट; निधनानि- विनाश होने पर; एव- इस तरह से; तत्र- अतः; का- क्या;
परिदेवना- शोक ।

सारे जीव प्रारम्भ में अव्यक्त रहते हैं, मध्य अवस्था में व्यक्त होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अव्यक्त हो जाते हैं | अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है?

आश्चर्यवत्पश्यति कठिच्चदेन-
माश्चर्यवद्दति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कठिच्चत् ॥ २९ ॥

आश्चर्यवत्- आश्चर्य की तरह; पश्यति- देखता है; कठिच्चत्- कोई; एनम्- इस आत्मा को;
आश्चर्यवत्- आश्चर्य की तरह; वदति- कहता है; तथा- जिस प्रकार; एव- निश्चय ही; च- भी; अन्यः- दूसरा; आश्चर्यवत्- आश्चर्य से; च- और; एनम्- इस आत्मा को; अन्यः- दूसरा; शृणोति- सुनता है;
श्रुत्वा- सुनकर; अपि- भी; एनम्- इस आत्मा को; वेद- जानता है; न- कभी नहीं; च- तथा; एव- निश्चय ही; कठिच्चत्- कोई ।

कोई आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह बताता है तथा कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, किन्तु कोई-कोई इसके विषय में सुनकर भी कुछ नहीं समझ पाते ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत |
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि || ३० ||

देही - भौतिक शरीर का स्वामी; नित्यम् - शाश्वत; अवध्यः - मारा नहीं जा सकता; अयम् - यह आत्मा; देहे - शरीर में; सर्वस्य - हर एक के; भारत - हे भारतवंशी; तस्मात् - अतः; सर्वाणि - समस्त; भूतानि - जीवों (जन्म लेने वालों) को; न - कभी नहीं; त्वम् - तुम; शोचितुम् - शोक करने के लिए; अर्हसि - योग्य हो।

हे भारतवंशी! शरीर में रहने वाले (देही) का कभी भी वध नहीं किया जा सकता। अतः तुम्हें किसी भी जीव के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि |
धर्म्याद्विद्युद्धाच्छ्रेष्ठोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते || ३१ ||

स्व-धर्मम् - अपने धर्म को; अपि - भी; च - निस्सन्देह; अवेक्ष्य - विचार करके; न - कभी नहीं; विकम्पितुम् - संकोच करने के लिए; अर्हसि - तुम योग्य हो; धर्म्याद् - धर्म के लिए; हि - निस्सन्देह; युद्धात् - युद्ध करने की अपेक्षा; श्रेयः - श्रेष्ठ साधन; अन्यत् - कोई दूसरा; क्षत्रियस्य - क्षत्रिय का; न - नहीं; विद्यते - है।

क्षत्रिय होने के नाते अपने विशिष्ट धर्म का विचार करते हुए तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म के लिए युद्ध करने से बढ़ कर तुम्हारे लिए अन्य कोई कार्य नहीं है। अतः तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् |
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् || ३२ ||

यदृच्छया - अपने आप; च - भी; उपपन्नम् - प्राप्त हुए; स्वर्ग - स्वर्गलोक का; द्वारम् - दरवाजा; अपावृतम् - खुला हुआ; सुखिनः - अत्यन्त सुखी; क्षत्रियाः - राजपरिवार के सदस्य; पार्थ - हे पृथापुत्र; लभन्ते - प्राप्त करते हैं; युद्धम् - युद्ध को; ईदृशम् - इस तरह।

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं जिन्हें ऐसे युद्ध के अवसर अपने आप प्राप्त होते हैं जिससे उनके लिए स्वर्गलोक के द्वार खुल जाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अथ—अतः; चेत्—यदि; त्वम्—तुम; इमम्—इस; धर्म्यम्—धर्म रूपी; संग्रामम्—युद्ध को; न—नहीं;
करिष्यसि—करोगे; ततः—तब; स्व-धर्मम्—अपने धर्म को; कीर्तिम्—यश को; च—भी; हित्वा—खोकर;
पापम्—पापपूर्ण फल को; अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे।

किन्तु यदि तुम युद्ध करने के स्वधर्म को सम्पन्न नहीं करते तो तुम्हें निश्चित रूप से अपने कर्तव्य की
अपेक्षा करने का पाप लगेगा और तुम योद्धा के रूप में भी अपना यश खो दोगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अकीर्तिम्—अपयश; च—भी; अपि—इसके अतिरिक्त; भूतानि—सभी लोग; कथयिष्यन्ति—कहेंगे; ते—
तुम्हारे; अव्ययाम्—सदा के लिए; सम्भावितस्य—सम्मानित व्यक्ति के लिए; च—भी; अकीर्तिः—अपयश,
अपकीर्ति; मरणात्—मृत्यु से भी; अतिरिच्यते—अधिक होती है।

लोग सदैव तुम्हारे अपयश का वर्णन करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी
बढ़कर है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

भयात्— भय से; रणात्— युद्धभूमि से; उपरतम्— विमुख; मंस्यन्ते— मानेंगे; त्वाम्— तुमको; महारथाः— बड़े-बड़े योद्धा; येषाम्— जिनके लिए; च— भी; त्वम्— तुम; बहु-मतः— अत्यन्त सम्मानित; भूत्वा— हो कर; यास्यसि— जाओगे; लाघवान्— तुच्छता को ।

जिन-जिन महाँ योद्धाओं ने तुम्हारे नाम तथा यश को सम्मान दिया है वे सोचेंगे कि तुमने डर के मारे युद्धभूमि छोड़ दी है और इस तरह वे तुम्हें तुच्छ मानेंगे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्य— कटु; वादान्— मिथ्या शब्द; च— भी; बहून्— अनेक; वदिष्यन्ति— कहेंगे; तव— तुम्हारे; अहिताः— शत्रु; निन्दन्तः— निन्दा करते हुए; तव— तुम्हारी; सामर्थ्यम्— सामर्थ्य को; ततः— अपेक्षा; दुःख-तरम्— अधि दुखदायी; नु— निस्सन्वेह; किम्— और क्या है?

तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकार के कटु शब्दों से तुम्हारा वर्णन करेंगे और तुम्हारी सामर्थ्य का उपहास करेंगे

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हतो— मारा जा कर; वा— या तो; प्राप्स्यसि— प्राप्त करोगे; स्वर्गम्— स्वर्गात्मक को; जित्वा— विजयी होकर; वा— अथवा; भोक्ष्यसे— भोगोगे; महीम्— पृथ्वी को; तस्मात्— अतः; उत्तिष्ठ— उठो; कौन्तेय— हे कुन्तीपुत्र; युद्धाय— लड़ने के लिए; कृत— दृढ़; निश्चय— संकल्प से ।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यदि युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे या यदि तुम जीत जाओगे तो पृथ्वी के साम्राज्य का भोग करोगे । अतः दृढ़ संकल्प करके खड़े होओ और युद्ध करो ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख— सुख; दुःखे— तथा दुख में; समे— समभाव से; कृत्वा— करके; लाभ-अलाभौ— लाभ तथा हानि दोनों; जय-अजयौ— विजय तथा पराजय दोनों; ततः— तत्पश्चात्; युद्धाय— युद्ध करने के लिए; युज्यस्व— लगो (लड़ो); न— कभी नहीं; एवम्— इस तरह; पापम्— पाप; अवाप्स्यसि— प्राप्त करोगे ।

तुम सुख या दुख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किये बिना युद्ध के लिए युद्ध करो । ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

एषा— यह सब; ते— तेरे लिए; अभिहिता— वर्णन किया गया; सांख्ये— वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; बुद्धिः— बुद्धि;
योगे— निष्काम कर्म में; तु— लेकिन; इमाम्— इसे; शृणु— सुनो; बुद्ध्या— बुद्धि से; युक्तः— साथ-साथ, सहित;
यथा— जिससे; पार्थ— हे पृथापुत्र; कर्म-बन्धम्— कर्म के बन्धन से; प्रहास्यसि— मुक्त हो जाओगे ।

यहाँ मैंने वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया है । अब निष्काम भाव से कर्म करना बता रहा हूँ उसे सुनो । हे पृथापुत्र! तुम यदि ऐसे ज्ञान से कर्म करोगे तो तुम कर्मों के बन्धन से अपने को मुक्त कर सकते हो ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

न— नहीं; इह— इस योग में; अभिक्रम— प्रयत्न करने में; नाशः— हानि; अस्ति— है; प्रत्यवायः— हास; न— कभी नहीं; विद्यते— है; सु-अल्पम्— थोड़ा; अपि— यद्यपि; धर्मस्य— धर्म का; त्रायते— मुक्त करना है; महतः— महान; भयात्— भय से ।

इस प्रयास में न तो हानि होती है न ही हास अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान भय से रक्षा कर सकती है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन |
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

व्यवसाय-आत्मिका—कृष्णभावनामृत में स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; एका—एकमात्र; इह—इस संसार में; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय; बहु-शाखाः—अनेक शाखाओं में विभक्त; हि—निस्सन्देह; अनन्ताः—असीम; च-भी; बुद्ध्यः—बुद्धि; अव्यवसायिनाम्—जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं उनकी।

जो इस मार्ग पर (चलते) हैं वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन!
जो दृढ़प्रतिज्ञ नहीं है उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।

याभिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपथिच्चतः ।
वेदवादरताः पार्थं नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्चर्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

याम् इमाम्—ये सब; पुष्पिताम्—दिखावटी; वाचम्—शब्द; प्रवदन्ति—कहते हैं; अविपथिच्चतः—अल्पज्ञ व्यक्ति; वेद-वाद-रताः—वेदों के अनुयायी; पार्थ—हे पार्थ; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; अस्ति—है; इति—इस प्रकार; वादिनः—बोलनेवाले; काम-आत्मनः—इन्द्रियतृप्ति के इच्छुक; स्वर्ग-पराः—स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक; जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्—उत्तम जन्म तथा अन्य सकाम कर्मफल प्रदान करने वाला; क्रिया-विशेष—भड़कीले उत्सव; बहुलाम्—विविध; भोग—इन्द्रियतृप्ति; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य; गतिम्—प्रगति; प्रति—की ओर।

अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

भोग— भौतिक भोग; ऐश्वर्य— तथा ऐश्वर्य के प्रति; प्रसक्तानाम्— आसक्तों के लिए; तथा— ऐसी वस्तुओं से; अपहृत-चेतसाम्— मोहग्रसित चित्त वाले; व्यवसाय-आत्मिका:— दृढ़ निश्चय वाली; बुद्धिः— भगवान् की भक्ति; समाधौ— नियन्त्रित मन में; न— कभी नहीं; विधीयते— घटित होती है ।

१४४

जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त होने से ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते हैं, उनके मनों में भगवान् के प्रति भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निखैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

त्रै-गुण्य— प्राकृतिक तीनों गुणों से सम्बन्धित; विषया:— विषयों में; वेदा:— वैदिक साहित्य; निखै-गुण्य:— प्रकृति के तीनों गुणों से पेरे; भव— होओ; अर्जुन— हे अर्जुन; निर्द्वन्द्वः— द्वैतभाव से मुक्त; नित्य-सत्त्व-स्थः— नित्य शुद्धसत्त्व में स्थित; नियोग-क्षेमः— लाभ तथा रक्षा के भावों से मुक्त; आत्म-वान्— आत्मा में स्थित ।

वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है । हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो । समस्त द्वैतों और लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म-परायण बनो ।

यावानर्थं उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यावान्—जितना सारा; अर्थः—प्रयोजन होता है; उद-पाने—जलकूप में; सर्वतः—सभी प्रकार से; सम्प्लुत-उदके—विशाल जलाशय में; तावान्—उसी तरह; सर्वेषु—समस्त; वेदेषु—वेदों में; ब्राह्मणस्य—परब्रह्म को जानने वाले का; विजानतः—पूर्ण ज्ञानी का।

एक छोटे से कूप का सारा कार्य एक विशाल जलाशय से तुरन्त पूरा हो जाता है। इसी प्रकार वेदों के आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले को उनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुभूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

कर्मणि—कर्म करने में; एव—निश्चय ही; अधिकारः—अधिकार; ते—तुम्हारा; मा—कभी नहीं; फलेषु—(कर्म) फलों में; कदाचन—कदापि; मा—कभी नहीं; कर्म-फल—कर्म का फल; हेतुः—कारण; भूः—होओ; मा—कभी नहीं; ते—तुम्हारी; सङ्गः—आसक्ति; अस्तु—हो; अकर्मणि—कर्म न करने में।

तुम्हें अपने कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

योगस्थः— समभाव होकर; कुरु— करो; कर्माणि— अपने कर्म; सङ्गं— आसक्ति को; त्यक्त्वा— त्याग कर; धनञ्जय— हे अर्जुन; सिद्धि-असिद्ध्योः— सफलता तथा विफलता में; समः— समभाव; भूत्वा— होकर; समत्वम्— समता; योगः— योग; उच्यते— कहा जाता है ।

हे अर्जुन! जय अथवा पराजय की समस्त आसक्ति त्याग कर समभाव से अपना कर्म करो | ऐसी समता योग कहलाती है ।

दुरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्वनञ्जय
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दुरेण— दूर से ही त्याग दो; हि— निश्चय ही; अवरम्— गर्हित, निन्दनीय; कर्म— कर्म; बुद्धि-योगात्— कृष्णभावनामृत के बल पर; धनञ्जय— हे सम्पत्ति को जीतने वाले; बुद्धौ— ऐसी चेतना में; शरणम्— पूर्ण समर्पण, आश्रयः; अन्विच्छ— प्रयत्न करो; कृपणाः— कंजूस व्यक्ति; फल-हेतवः— सकाम कर्म की अभिलाषा वाले ।

हे धनञ्जय! भक्ति के द्वारा समस्त गर्हित कर्मों से दूर रहो और उसी भाव से भगवान् की शरण करो | जो व्यक्ति अपने सकाम कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं, वे कृपण हैं ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धि-युक्तः— भक्ति में लगा रहने वाला; जहाति— मुक्त हो सकता है; इह— इस जीवन में; उभे— दोनों; सुकृत-दुष्कृते— अच्छे तथा बुरे फल; तस्मात्— अतः; योगाय— भक्ति के लिए; युज्यस्व— इस तरह लग जाओ; योगः— कृष्णभावनामृत; कर्मसु— समस्त कार्यों में; कौशलम्— कुशलता, कला ।

भक्ति में संलग्न मनुष्य इस जीवन में ही अच्छे तथा बुरे कार्यों से अपने को मुक्त कर लेता है । अतः योग के लिए प्रयत्न करो क्योंकि सारा कार्य-कौशल यही है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्म-जम्— सकाम कर्मों के कारण; **बुद्धि-युक्ता**— भक्ति में लगे; हि— निश्चय ही; **फलम्**— फल; **त्यक्त्वा**— त्याग कर; **मनीषिणः**— बड़े-बड़े ऋषि मुनि या भक्तगण; **जन्म-बन्ध**— जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से; **विनिर्मुक्ताः**— मुक्त; **पदम्**— पद पर; **गच्छन्ति**— पहुँचते हैं; **अनामयम्**— बिना कष्ट के ।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिव्यतिरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

यदा—जब; ते—तुम्हारा; मोह—मोह के; कलिलम्—घने जंगल को; बुद्धिः—बुद्धिमय दिव्य सेवा;
व्यतिरिष्यति—पार कर जाति है; तदा—उस समय; गन्ता असि—तुम जाओगे; निर्वेदम्—विरक्ति को;
श्रोतव्यस्य—सुनने योग्य के प्रति; श्रुतस्य—सुने हुए का; च—भी ।

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी सधन वन को पार कर जायेगी तो तुम सुने हुए तथा सुनने योग्य सब के
प्रति अन्यमनस्क हो जाओगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुति—वैदिक ज्ञान के; विप्रतिपन्ना—कर्मफलों से प्रभावित हुए बिना; ते—तुम्हारा; यदा—जब; स्थास्यति—
स्थिर हो जाएगा; निश्चला—एकनिष्ठ; समाधौ—दिव्य चेतना या कृष्णभावनामृत में; अचला—स्थिर; बुद्धिः—
बुद्धि; तदा—तब; योगम्—आत्म-साक्षात्कार; अवाप्यसि—तुम प्राप्त करोगे ।

जब तुम्हारा मन वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित न हो और वह आत्म-साक्षात्कार की
समाधि में स्थिर हो जाय, तब तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त हो जायेगी ।

अर्जुन उवाच
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव |
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुनः उवाच— अर्जुन ने कहा; स्थित-प्रज्ञस्य— कृष्णभावनामृत में स्थिर हुए व्यक्ति की; का— क्या; भाषा— भाषा; समाधि-स्थस्य— समाधि में स्थित पुरुष का; केशव— हे कृष्ण; स्थित-धीः— कृष्णभावना में स्थिर व्यक्ति; किम्— क्या; प्रभाषेत— बोलता है; किम्— कैसे; आसीत— रहता है; ब्रजेत— चलता है; किम्— कैसे ।

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! अध्यात्म में लीन चेतना वाले व्यक्ति (स्थितप्रज्ञ) के क्या लक्षण हैं? वह कैसे बोलता है तथा उसकी भाषा क्या है? वह किस तरह बैठता और चलता है?

श्रीभगवानुवाच
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थं मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदेव्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् उवाच - श्रीभगवान् ने कहा; प्रजहाति— त्यागता है; यदा— जब; कामान्— इन्द्रियवृत्ति की इच्छाएँ; सर्वान्— सभी प्रकार की; पार्थ— हे पृथापुत्र; मनः गतान्— मनोरथ का; आत्मनि— आत्मा की शुद्ध अवस्था में; एव— निश्चय ही; आत्मना— विशुद्ध मन से; तुष्टः— सन्तुष्ट, प्रसन्न; स्थित-प्रज्ञः— अध्यात्म में स्थित; तदा— उस समय, तब; उच्यते— कहा जाता है ।

श्रीभगवान् ने कहा – हे पार्थ! जब मनुष्य मनोरथम् से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियवृत्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस तरह से विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा में सन्तोष प्राप्त करता है तो वह विशुद्ध दिव्य चेतना को प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखेषु— तीनों तापों में; अनुद्विग्न-मनाः— मन में विचलित हुए बिना; सुखेषु— सुख में; विगत-स्पृहः— रुचिरहित होने; वीत— मुक्त; राग— आसक्ति; क्रोधः— तथा क्रोध से; स्थित-धीः— स्थिर मन वाला; मुनिः— मुनि; उच्यते— कहलाता है।

जो त्रय तापों के होने पर भी मन में विचलित नहीं होता अथवा सुख में प्रसन्न नहीं होता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर मन वाला मुनि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यः— जो; सर्वत्र— सभी जगह; अनभिस्नेहः— स्नेहशून्य; तत्— उस; प्राप्य— प्राप्त करके; शुभ— अच्छा; अशुभम्— बुरा; न— कभी नहीं; अभिनन्दति— प्रशंसा करता है; न— कभी नहीं; द्वेष्टि— द्वेष करता है; तस्य— उसका; प्रज्ञा— पूर्ण ज्ञान; प्रतिष्ठिता— अचल।

इस भौतिक जगत् में जो व्यक्ति न तो शुभ की प्राप्ति से हरित होता है और न अशुभ के प्राप्त होने पर उससे धृणा करता है, वह पूर्ण ज्ञान में स्थिर होता है।

यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियानीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

यदा— जब; संहरते— समेत लेता है; च— भी; अयम्— यह; कूर्मः— कछुवा; अङ्गानि— अंग; इव— सदृश; सर्वशः— एकसाथ; इन्द्रियाणि— इन्द्रियाँ; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः— इन्द्रियविषयों से; तस्य— उसकी; प्रज्ञा— चेतना; प्रतिष्ठिता— स्थिर ।

जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को संकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से खींच लेता है, वह पूर्ण चेतना में दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

विषया— इन्द्रियभोग की वस्तुएँ; विनिवर्तन्ते— दूर रहने के लिए अभ्यास की जाती हैं; निराहारस्य— निषेधात्मक प्रतिबन्धों से; देहिनः— देहवान जीव के लिए; रस-वर्जम्— स्वाद का त्याग करता है; रसः— भोगेच्छा; अपि— यद्यपि है; अस्य— उसका; परम्— अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुएँ; दृष्ट्वा— अनुभव होने पर; निवर्तते— वह समाप्त हो जाता है ।

देहधारी जीव इन्द्रियभोग से भले ही निवृत्त हो जाय पर उसमें इन्द्रियभोगों की इच्छा बनी रहती है । लेकिन उत्तम रस के अनुभव होने से ऐसे कार्यों को बन्द करने पर वह भक्ति में स्थिर हो जाता है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

१६०

यततः— प्रयत्न करते हुए; हि— निश्चय ही; अपि— के बावजूद; कौन्तेय— हे कुन्तीपुत्र; पुरुषस्य— मनुष्य की;
विपश्चितः— विवेक से युक्त; इन्द्रियाणि— इन्द्रियाँ; प्रमाथीनि— उत्तेजित; हरन्ति— फेंकती हैं; प्रसभम्— बल
से; मनः— मन को ।

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी प्रबल तथा वेगवान हैं कि वे उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर
लेती हैं, जो उन्हें वश में करने का प्रयत्न करता है ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

तानि— उन इन्द्रियों को; सर्वाणि— समस्त; संयम्य— वश में करके; युक्तः— लगा हुआ; आसीत— स्थित होना;
मत्-परः— मुझमें; वशे— पूर्णतया वश में; हि— निश्चय ही; यस्य— जिसकी; इन्द्रियाणि— इन्द्रियाँ; तस्य—
उसकी; प्रज्ञा— चेतना; प्रतिष्ठिता— स्थिर ।

जो इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखते हुए इन्द्रिय-संयमन करता है और अपनी चेतना को मुझमें स्थिर
कर देता है, वह मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

ध्यायतः— चिन्तन करते हुए; विषयान्— इन्द्रिय विषयों को; पुंसः— मनुष्य की; सङ्गः— आसक्ति; तेषु— उन इन्द्रिय विषयों में; उपजायते— विकसित होती है; सङ्गात्— आसक्ति से; सञ्जायते— विकसित होती है; कामः— इच्छा; कामात्— काम से; क्रोधः— क्रोध; अभिजायते— प्रकट होता है।

१६३

इन्द्रियाविषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य की उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाति है और ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध प्रकट होता है।

क्रोधाद्वति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधात्— क्रोध से; भवति— होता है; सम्मोहः— पूर्ण मोह; सम्मोहात्— मोह से; स्मृति— स्मरणशक्ति का; विभ्रमः— मोह; स्मृति-भ्रंशात्— स्मृति के मोह से; बुद्धि-नाशः— बुद्धि का विनाश; बुद्धि-नाशात्— तथा बुद्धिनाश से; प्रणश्यति— अथःपतन होता है।

क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मरणशक्ति का विभ्रम हो जाता है। जब स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाति है, तो बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य भव-कूप में पुनः गिर जाता है।

रागद्वेषविमुक्तेस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादधिगच्छति ॥ ६४ ॥

राग—आसक्ति; द्वेष—तथा वैराग्य से; विमुक्ते—मुक्त रहने वाले से; तु—लेकिन; विषयान्—इन्द्रियविषयों को;

इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; चरन्—भोगता हुआ; आत्म-वश्यैः—अपने वश में; विधेय-आत्मा—नियमित स्वाधीनता पालक; प्रसादम्—भगवत्कृपा को; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

किन्तु समस्त राग तथा द्वेष से मुक्त एवं अपनी इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करने में समर्थ व्यक्ति भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सकता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याश्रु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे—भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त होने पर; सर्व—सभी; दुःखानाम्—भौतिक दुखों का; हानि—क्षय, नाश; अस्य—उसके; उपजायते—होता है; प्रसन्न-चेतसः—प्रसन्नचित्त वाले की; हि—निश्चय ही; आशु—तुरन्त; बुद्धिः—बुद्धि; परि—पर्याप्त; अवतिष्ठते—स्थिर हो जाती है।

इस प्रकार कृष्णभावनामृत में तुष्ट व्यक्ति के लिए संसार के तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं और ऐसी तुष्ट चेतना होने पर उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिर्युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियाणाम्- इन्द्रियों के; हि- निश्चय ही; चरताम्- विचरण करते हुए; यत्- जिसके साथ; मनः- मन; अनुविधीयते- निरन्तर लगा रहता है; तत्- वह; अस्य- इसकी; हरति- हर लेती है; प्रज्ञाम्- बुद्धि को; वायुः- वायु; नावम्- नाव को; इव- जैसे; अभ्यसि- जल में ।

जिस प्रकार पानी में तैरती नाव को प्रचण्ड वायु दूर बहा ले जाती है उसी प्रकार विचरणशील इन्द्रियों में से कोई एक जिस पर मन निरन्तर लगा रहता है, मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

तस्मात्- अतः; यस्य- जिसकी; महा-बाहो- हे महाबाहु; निगृहीतानि- इस तरह वशिभूत; सर्वशः- सब प्रकार से; इन्द्रियाणि- इन्द्रियाँ; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः- इन्द्रियविषयों से; तस्य- उसकी; प्रज्ञा- बुद्धि; प्रतिष्ठिता-स्थिर ।

अतः हे महाबाहु! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सब प्रकार से विरत होकर उसके वश में हैं, उसी की बुद्धि निस्सन्देह स्थिर है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

या— जो; निशा— रात्रि है; सर्व— समस्त; भूतानाम्— जीवों की; तस्याम्— उसमें; जागर्ति— जागता रहता है; संयमी— आत्मसंयमी व्यक्ति; यस्याम्— जिसमें; जाग्रति— जागते हैं; भूतानि— सभी प्राणी; सा— वह; निशा— रात्रि; पश्यतः— आत्मनिरीक्षण करने वाले; मुनेः— मुनि के लिए।

जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वह आत्मसंयमी के जागने का समय है और जो समस्त जीवों के जागने का समय है वह आत्मनिरीक्षक मुनि के लिए रात्रि है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमान्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

आपूर्यमाणम्— नित्य परिपूर्ण; अचल-प्रतिष्ठम्— दृढ़तापूर्वक स्थित; समुद्रम्— समुद्र में; आपः— नदियाँ; प्रविशन्ति— प्रवेश करती हैं; यद्वतः— जिस प्रकार; तद्वतः— उसी प्रकार; कामा— इच्छाएँ; यम्— जिसमें; प्रविशन्ति— प्रवेश करती हैं; सर्वे— सभी; सः— वह व्यक्ति; शान्तिम्— शान्ति; आन्नोति— प्राप्त करता है; न— नहीं; काम-कामी— इच्छाओं को पूरा करने का इच्छुक।

जो पुरुष समुद्र में निरन्तर प्रवेश करती रहने वाली नदियों के समान इच्छाओं के निरन्तर प्रवाह से विचलित नहीं होता और जो सदैव स्थिर रहता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं को तुष्ट करने की चेष्टा करता हो।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहडकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहाय— छोड़कर; कामान्— इन्द्रियतृप्ति की भौतिक इच्छाएँ; यः— जो; सर्वान्— समस्त; पुमान्— पुरुष; चरति— रहता है; निःस्पृहः— इच्छारहित; निर्ममः— ममतारहित; निरहडकार— अहंकारशून्य; सः— वह; शान्तिम्— पूर्ण शान्ति को; अधिगच्छति— प्राप्त होता है ।

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित रहता है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक को शान्ति प्राप्त कर सकता है ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थै नैनां प्राप्य विमुद्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

एषा— यह; ब्राह्मी— आध्यात्मिक; स्थितिः— स्थिति; पार्थै— हे पृथापुत्र; न— कभी नहीं; एनाम्— इसको; प्राप्य— प्राप्त करके; विमुद्यति— मोहित होता है; स्थित्वा— स्थित होकर; अस्याम्— इसमें; अन्त-काले— जीवन के अन्तिम समय में; अपि— भी; ब्रह्म-निर्वाणम्— भगवद्वाम को; ऋच्छति— प्राप्त होता है ।

यह आध्यात्मिक तथा ईश्वरीय जीवन का पथ है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य मोहित नहीं होता । यदि कोई जीवन के अन्तिम समय में भी इस तरह स्थित हो, तो वह भगवद्वाम को प्राप्त होता है ।